उमापतिधरकृता

विजयसेनप्रशस्तिः

(copara Inscription of Vijayasena)

(सटीका सानुवादा)

टीकाकारः

प्रो० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः'

एम्० ए०, साहित्यरत्नम्

(लब्धस्वर्णपदकः)

संस्कृताध्यापकः, पटना कालेजः

पटना

प्राप्तिस्थानम्

पं० षष्ठीप्रसादशर्मा

ग्रा० पो० पोन्दिल

मण्डल-गया

उमापतिधरकृता

विजयसेनप्रशस्तिः

(देवपाडाशिलालेखः)

(सटीक सानुवाद.)

टीकाः

प्रो० उमाशङ्करशर्मा

एम्० ए०, साहित्यरत्न

(लब्धस्वर्णपदक.)

संस्कृताध्यापक , पटना कालेजः

पटना

प्रथम संस्करणम्   १९५०

प्रकाशक —
पं० षष्ठी प्रसाद शर्मा,
ग्रा० पो०—पोन्दिल,
मण्डल—गया।

प्रथम संस्करण १९६०

मुद्रक —
स्पार्क प्रेस प्रा० लि०,

लेखक परिचय



श्री उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' का जन्म रविवार, पौ० कृ० ६, १९९४ वि० को एक सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल मे हुआ था। विभिन्न स्थानों मे शिक्षा-ग्रहण करने के बाद इन्होंने प्रवेशिका परीक्षा १९५२ ई० में ससम्मान उत्तीर्ण की। १९५७ ई० मे बिहार विश्व-विद्यालय से बी० ए० संस्कृत ऑनर्स लेकर उत्तीर्ण हुए जिसमे प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान तथा डिस्टिंक्शन भी मिला। १९५९ ई० में पटना विश्वविद्यालय से एम० ए० (संस्कृत) में दर्शन-वर्ग लेकर प्रथम श्रेणी में प्रथम हुए। सं० २०१५ में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की साहित्य-रत्न की परीक्षा मे भी प्रथम श्रेणी पाई। बिहार सरकार की छात्रवृत्ति लेकर नालन्दा मे कुछ दिनों तक बौद्ध न्याय मे अनुसन्धान करने के बाद जनवरी १९६० मे पटना कॉलेज में संस्कृत-प्रोफेसर होकर आ गये।

कविता में इनकी रुचि बचपन से थी। इन्होने कृष्णचरित्रायण (हिन्दी काव्य), रामवनवास (हिन्दी काव्य), शान्तिविजयम् (नेहरु की रूस-यात्रा विषयक संस्कृत काव्य), कविकुञ्जम् (संस्कृत प्रहसन) तथा सोहराब और रुस्तम (मैथ्यू आर्नल्ड का हिन्दी-पद्या-नुवाद) लिखा है। ये संस्कृत, हिन्दी तथा अंगरेजी में समान रूप से कविता करते है। चौखम्बा-विद्याभवन से इनका 'निरुक्त' शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ-रचना की ओर इनकी प्रवृत्ति बहुत अधिक है।

—प्रो० सर्वानन्द पाठक
नालन्दा।

समर्पणम्

'सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्'

शिथिलशरीरं परममधीरं
मां पश्यसि न चिराय हे
तव चरणेषु ममाञ्जलयः ।
नवसमयोऽयं प्रकृतोऽयं स्वागतमेव तनोति,
अपि शुभकालेऽनागतवाले किं हृदयं न दुनोति ?
तव शुभसार मधुरविचारं
याति स्मृतिमविहाय हे
तव चरणेषु ममाञ्जलयः ।
चेतोहारिणि सङ्गतिकारिणि क्व गता सा खलु देवी ?
हारं हारं मम हृदि भारं चरणानामिह सेवी ।
हृदि तव चित्रं परमपवित्रं
कल्पत एव वराय हे
तव चरणेषु ममाञ्जलयः ।

'ऋषिः'



परिचय

और उसके सामने तालाब का निर्माण कराया था जिसका प्रस्तुत लेख में वर्णन है। विजयसेन का पुत्र बल्लालसेन हुआ जिसकी पत्नी चलुक्य-कुल की राजकुमारी रामदेवी थी (माधाइ नगर०)। उसका भी नइहाटी दानपत्र मिला है। इसका पुत्र विख्यात लक्ष्मणसेन हुआ जिसकी पत्नी चन्द्रा देवी या त्यद्दनदेवी थी। इसने लक्ष्मण-संवत् चलाया। इसके कई लेख मिले है। इसकी राज सभा में कई पण्डित थे जिनमें जयदेव उमापतिधर, धोयी, गोवर्द्धन, शरण आदि मुख्य थे। इसके दो पुत्र विश्वरूपसेन और केशवसेन थे जिनके लेख भी प्राप्त हैं। इनसे ही बंगाल के सेनवंश का अन्त पाया जाता है क्योंकि इस समय तक यवनों का आक्रमण होने लग गया था।

१ कवि उमापतिधर —प्रस्तुत प्रशस्ति के रचयिता उमापतिधर हैं। यद्यपि उन्होंने इसमें विजयसेन तक के ही राजाओं का वर्णन किया है किन्तु मेरुतुङ्ग के प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर इन्हें लक्ष्मणसेन की सभा में अवस्थित माना जाता है। इसके अलावे जयदेव का यह प्रसिद्ध श्लोक भी प्रामाणिक माना जाता है —

> गोवर्द्धनश्च शरणो जयदेव उमापति ।
> कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ॥

पुन श्रीमद्भागवत की भावार्थ दीपिनी टीका पर वैष्णव तोषणी नाम की टीका में एक स्थान पर लिखा है— श्रीजयदेवसहचरेण महाराजलक्ष्मणसेनमन्त्रि वरेणोमापतिधरेण' (सं० शब्दार्थ कौस्तुभ परिशिष्ट, पृ० ८०)।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उमापतिधर विजयसेन से लेकर लक्ष्मणसेन तक के सभासद् रहे होंगे। इनके समकालीन जयदेव (गीतगोविन्द कार), धोयी या कविराज (पवनदूतकार , शरण (दुर्घटवृत्ति के रचयिता), गोवर्द्धन (आर्यासप्तशती) आदि बड़े-बड़े कवि और पण्डित थे। प्रस्तुत प्रशस्ति के अलावे उमापतिधर की रचनायें छिट-पुट रूप से सूक्तिकर्णामृत, सुभाषितमुक्तावली और शार्ङ्गधर पद्धति में मिलती है।

२ उमापतिधर की काव्य शैली —प्रस्तुत प्रशस्ति में ही वर्णन

वैचित्र्य है जिसे हम पूरी प्रशस्ति में पाते हैं विशेषतया शिव के विषय में कही गई उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक हैं (श्लोक ३० ३१, ३८)। कवि के विषय में यहाँ स्थानाभाव से अधिक न कहकर यही कहना पर्याप्त होगा—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।

४ प्रशस्ति —यह प्रशस्ति ३ फी० ७ ई० लम्बे तथा १ फुट ६½ ई० चौड़े पत्थर पर खुदी हुई सन् १८६५ ई० में मेट्काफ के द्वारा पायी गई थी। सम्प्रति कलकत्ता के संग्रहालय (Indian Museum) में रखी है। इसका सम्पादन मेट्काफने (Journal of Asiatic Society of Bengal) में तथा कीलहॉर्न ने एपिग्राफिया इण्डिका (भाग ० १ पृ० ३०५ १५) में किया था। पुनः डा० ननी गोपाल मजुमदार ने सेनवंशीय राजाओं के शिलालेखों के साथ से Inscriptions of Bengal (Vol III) में प्रकाशित किया।

५ प्रस्तुत प्रयास —इसकी प्रेरणा गुरुवर आचार्य चन्द्रकान्त पाण्डेय से सम्बद्ध है जिन्होंने मेरी नियुक्ति पटना कालेज में हो जाने पर मेरी स्वाभाविक रुचि देखकर मुझे षष्ठ वर्ष में यह विषय पढ़ाने को दिया। आधुनिक वैज्ञानिक युग में बेचारे छात्रों को पाण्डुलिपि से पढ़ते देख मुझे बहुत खेद हुआ तथा इसे प्रकाशित करने का संकल्प कर लिया। संस्कृत में प्रभा व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद के साथ इसे मैंने होली की छुट्टियों में तीन दिन कमरे में बैठकर दिन रात लगातार परिश्रम करके तैयार ही कर लिया। इसलिये मैं अपने भैया का बहुत कृतज्ञ हूँ कि इन तीन दिनों में घर में उन्होंने भले ही सिंहनाद किया परन्तु मुझे साधना में तत्पर देखकर बिलकुल छोड़ दिया।

प्रस्तुत प्रयास की अच्छाई बुराई कृपालु पाठकों और विद्वानों पर है। यदि यह कृति उन्हें पसन्द आई तो शीघ्र ही मैं शिलालेखों का बड़ा साहित्य प्रकाश में लाऊँगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

लेखक —

वसन्तोत्सव २ १६ । ऋषि

विजयसेन-प्रशस्तिः

प्रभाख्यव्याख्यावलिता

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' (अथर्व०) ।

नमो नित्यं सरस्वत्यै गुरवे वनमालिने ।
वाणी मे सफला भूयाच्छिलालेखप्रकाशने ॥१॥

नाधीतं पदशास्त्रमप्यवगतः कोशो न सम्यङ्मया
साहित्येऽपि न साधना किल कृता तर्के सदा धर्षितः ।
वाग्देवीपदवन्दनार्जितयशोराशिप्रकाशीकृत—
स्तानन्दप्रभवा प्रभेयमधुना व्याख्या समाख्यायते ॥ २ ॥

अत्रभवान्महाकविरुमापतिधरः स्वाश्रयदस्य राज्ञो विजयसेनस्य कीर्तिभूतस्य प्रद्युम्नेश्वरमन्दिरस्य निर्माणवर्णनारूपं स्वप्रतिपिपादयिषितमर्थं प्रतिपित्सु 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते' इति भगवतो भाष्यकारस्य पतञ्जलेर्वचनं स्मारं दण्डिनो महाकवेः 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इति वचनमनुसृत्यादौ नमस्कारात्मकं मङ्गलमुखमारभते प्रशस्तिकाव्यमिदम्—

ॐ ॐ नमः शिवाय ।

ओमिति॥ ॐकारो मङ्गलवाची, उक्तञ्च—

ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठम्भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाविमौ ॥

ॐकारद्वयं मङ्गलप्रकर्षार्थम् । अथवा प्रथम ॐकारो मङ्गलवाची, अपरस्तु नमः शिवायेति पञ्चाक्षरमन्त्रस्यारम्भद्योतनार्थं श्रूयते हि तन्त्रेषु—'न ओङ्कारमनादृत्य कश्चिन्मन्त्रः प्रवर्तते,' । एतेन मन्त्रशब्देन वैदिको मन्त्रस्तान्त्रिको वापि

प्रतीयते। अत एव श्रीहर्षादीनां काव्येषु श्रीकारमभ्रे सरमस्य कुर्यां इत्यादीनां साधीयस्त्वम्। मङ्गलञ्च विघ्नविनाशनहेतुभूतम्। नम इति स्वापकृष्ट-वपूर्वक-परोत्कृष्ट-बोधक शब्द ॥

सम्प्रति शिवस्तुतिरूपां प्रशस्तिमारभते—

वक्षोंशुकाहरणसाध्वसकुण्टमौलि—
माल्यच्छटाहृतरतालयदीपभास ।
देव्यास्त्रपामुकुलितं मुखमिन्दुभाभि—
र्यो दयाननानि हसिताम्नि जयन्ति शम्भो ॥१॥

वक्षोंशुकेति ॥ वक्षसि विराजमानस्यांशुकस्य वस्त्रस्याहरणाद् दूरीकरणा-त्साध्वसं भयं, तेन कारणेन कुण्ठं स्वस्था मौलौ शिरसो माल्यं तस्य च्छटा। तया च्छटया रतालयस्य रतिभवनस्य दीपानां भारछवि हता यया तस्या देव्या पार्वत्या। इन्दुभाभिश्चन्द्रज्योतिर्भिस्त्रपया लज्जया मुकुलितं मुखं कमलस्य सदृशम् इन्दुभाभि कमलानामेव निसर्गवैरत्वात्। अतएव कमलसदृशस्यैवाननस्य हरशिर स्थितस्य चन्द्रस्य प्रकाशेन त्रपामुकुलितत्वं साधीय। तथाभूतं पार्वत्या मुखं वीक्ष्य शम्भोर्हसितानि पञ्चाननानि जयन्ति उत्कृष्टत्वेन वन्द्यानि स्युरित्यर्थः। एतनो माथा मात्मच्छटया सर्वप्रकाशकस्य जगत पित्रोश्च परस्परसंयोगश्रृङ्गारस्य भङ्गल द्योत्यते। प्रायेणानेको गुण यथाह दण्डी— श्रोषु समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥१॥

सम्प्रति देवगृहं वर्णयति—

लक्ष्मीवल्लभशैलजादयितयोरद्वैतलीलागृहं
प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठानं नमस्कुर्महे।
यत्रालिङ्गनभङ्गकातरतया स्थित्वा तरे कान्तयो—
र्देवीभ्यां कथमप्यभिन्नतनुताशिल्पेऽन्तरायः कृत ॥२॥

लक्ष्मीति ॥ लक्ष्म्या वल्लभस्य विष्णो शैलजाया पार्वत्या दयितस्य पत्युः शिवस्य चाद्वैतलीलाया एकीभवनक्रीडाया गृहं, यत्रेऽद्वैतं लीलागृहम्, उभयो रैक्यस्य चित्रं भवनमित्यर्थ। प्रद्युम्नेश्वरशब्दस्याथत्वे 'प्रद्युम्नेश्वर' इत्यस्य शब्द-

कीर्तिमद्भिर्यशोयुक्तैर्बभूवेऽभूयत । किञ्च पराशरस्यापत्येन व्यासेन विश्वस्य श्रवणेषु परिसर प्रसारस्तेन श्रीशानाथ प्रसादार्थं येषां नरपतीनां चारित्रस्याजुर्चिताऽनुस्मरण तेन परिचयस्तत एव शुचय पूतास्तथाभूता सूक्तय एव माध्वीकस्य मधुनो धारास्ता प्रणीता निर्मिता । व्यासेनाऽपि तेषां चारित्रमितिवृत्त वर्णितमित्यर्थ । अनुप्रासोऽलङ्कार । स्रग्धरा वृत्तम् ॥४॥

एतद्वंशीय सामन्तसेन वर्णयति –

तस्मिन्सेनान्ववाये प्रतिसुभटशतोत्सादनब्रह्मवादी
स ब्रह्मक्षत्रियाणामजनि कुलशिरोदाम सामन्तसेन ।
उद्गीयन्ते यदीया स्खलदुदधिजलोल्लोलशीतेषु सेतो
कच्छान्तेष्वप्सरोभिर्दशरथतनयस्पर्द्धया युद्धगाथा ॥५॥

तस्मिन्निति ॥ तस्मिन् पूर्वोक्ते सेनस्यान्ववाये वंशे प्रतिगता विरोधिरूपा सुभटा वीरास्तेषा शतस्योत्सादन विनाशे यद् ब्रह्म कीर्तिगान तद्वदतीति ब्रह्मवादी । अथवा वीरोत्सादन च ब्रह्म च वदति स्म—ब्रह्मक्षत्रियो धर्म करोति स्मेत्यर्थ । एतेन तस्य ब्राह्मणब्रह्मक्षत्रियवंशीयता सिद्धा । स ब्रह्मक्षत्रियाणमेतज्जातीना कुलस्य शिरोदाम शीर्षालङ्कारभूत सामन्तसेनोऽजनि जात । अप्सरोभिर्यदीया युद्धस्य गाथा दशरथतनयस्य रामस्य स्पर्द्धया प्रतियोगितया, स्खलन्तो चलन्त उदधय समुद्रास्तेषां जलस्योल्लोलत्वेन चाञ्चल्येन शीतेषु सेतो रामेश्वरस्थस्य कच्छा तेषु तीरेषूद्गीयन्ते । एनेन सामन्तसेनस्यान्तो राज्यं सूच्यते । व्याजोक्ति–रलङ्कार । स्रग्धरा वृत्तम् ॥५॥

यस्मिन्सङ्गरचत्वरे पटुरटत्तूर्योपहूतद्विष–
द्वर्गे येन कृपाणकालभुजग खेलायित पाणिना ।
द्वैधीभूतविपक्षकुञ्जरघटाविश्लिष्टकुम्भस्थली
मुक्तास्थूलवराटिकापरिकरैर्व्योम्न तद्वाप्यभूत् ॥६॥

यस्मिन्निति ॥ पटु अत्यर्थं रटन्ता शब्दयन्ता तूर्यैर्वा दुन्दुभिभिरोपहूता द्विषन्त शत्रवस्तेषां वर्गस्समूहो यस्मिंस्तथाभूते यस्मिन् सङ्गरचत्वरे रणाङ्गने येन सामन्तसेनेन पाणिना कृपाणमेव काल सर्पः स भुजगो सुभग खेलायित । यथा सपक्षीरिद्–

प्राङ्गणे तूर्यशब्देन सर्पं खेलयति, तथाऽयौ राजाऽपि कृपाणकौशलं पाणिना प्रदर्शयतीति भाव । तद्रणाङ्गनमध्यापि, द्वैधीभूता विच्छिन्ना यत्र तत्र पलायिता विपक्षस्य शत्रो. कुञ्जराणा गजाना घटा समूहास्तेषा विश्लिष्टा विदीर्णा कुम्भस्य कपोलस्य स्थली, तस्या मुक्तामणयस्त एव निर्मूल्यत्वेन स्थूला अशोभना वराटिका: कपर्दिन्य (कौडी) तासा परिकरैस्समूहैर्व्याप्तम् । बहव शत्रुगजा निहता इति भाव. । रूपकमलङ्कार ॥६॥

गृहाद् गृहमुपागत व्रजति पत्तन पत्तना—
द्वनाद्वनमनुद्रुत भ्रमति पादप पादपात् ।
गिरेर्गिरिमधिश्रित तरति तोयधि तोयधे—
र्यदीयमरिसुन्दरीतारकपृष्ठलग्नं यश ॥७॥

गृहादिति ॥ यदीय यस्य राज्ञो यशस्तस्यारीणा सुन्दरीणा (पलायमानाना सतीना) तरक प्रयाणं तस्य पृष्ठे लग्न सत् । तासा यानानुगामीति यावत् । गृहादेकस्माद्न्यद् गृहमुपागत, पत्तनान्नगरान्नगरान्तर व्रजति, वनाद्वनान्तरमनुद्रुतं धावति स्म, पादपाच्च पादपान्तरं भ्रमति, गिरेर्गिर्यन्तरमधिश्रितं, तोयधे. समुद्रादपरं समुद्रं तरति । एत तदरिसुन्दर्य पलायमाना: सर्वत्र भ्रमन्ति स्मेति भाव । पृथ्वी वृत्तम् ॥७॥

इदानीमुत्कीर्णानन्देगाम्य विजयमाह—

दुर्दान्तानामयमरिकुलाकीर्णकर्णाटलक्ष्मी—
लुण्टाकाना कदनमतनोत्ताहगैर्गाङ्गवीर. ।
यस्मात्‌ पार्श्विकलम्बमानमसृङ् नुभिन्ना

विहृतानि न नश्यन्ति वसामांसमेदांसि तत्तद्वेषां सुभिक्षं सुलभता यस्यां तां दक्षिणां दिशं न स्पृशति । अपरिमेयारातिविनाशात् स यथावद्मोऽयत्वेऽप्यक्षीणा इत्युत्प्रेक्षितम् । यमश्च दक्षिणदिग्वासी तस्य हेतुरत्रोचित । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥८॥

साम्प्रतमस्य वानप्रस्थदशामाह—

उद्गन्धीन्याज्यधूमैर्मृगशिशुरसिताखिलवैखानसस्त्री—
स्तन्यक्षीराणि कीरप्रकरपरिचितब्रह्मपारायणानि ।
येनासेव्यन्त शेषे वयसि भवभयास्कन्दिभिस्मस्करीन्द्रैः
पूर्णोत्सङ्गानि गङ्गापुलिनपरिसरारण्यपुण्याश्रमाणि ॥९॥

उद्गन्धीनीति ॥ येन राज्ञा शेषे वयसि वृद्धत्वे आज्यस्य घृतस्य धूमैरुद्गन्धीनि उद्गतो गन्धो येषां तथाभूतानि । गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः (५ ४ १३५) इतीकारः । मृगशिशुभी रसितान्यास्वादितान्युच्छिष्टा प्रसन्ना इत्यर्थः । या वैखानसानां मुनीनां स्त्रियस्तासां स्तन्यानि क्षीराणि येषु तानि । कीराणां शुकानां प्रकरैर्निवहैः परिचितो ब्रह्मणो वेदस्य पारायणः पाठो येषु तानि । कादम्बर्यामपि उक्तम्—'जगृहुः हेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैरिति' (श्लोक १२) । भवः पुनर्जन्म तस्य भयात्स्कन्दिभिः शुष्यद्भिरुद्विग्यमानैर्वा । स्कन्दिर्गतिशोषणयोः, ताच्छील्ये णिनिः । मस्करीन्द्रैर्योगीश्वरैः । मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः (६ १ १५४ इति निपातनात्सुट् । पूर्ण उत्सङ्गः प्रदेशो । येषां तानि, गङ्गाया पुलिनस्य तीरस्य परिसरे प्रदेशेऽरण्येषु पुण्यानि, तथाभूतान्याश्रमाण्यसेव्यन्त सेवितानि । वृद्धत्वेऽसौ वनमगात् । अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥९॥

साम्प्रतं तत्तनयं हेमं तसेनं वर्णयति—

अचरमपरमात्मज्ञानभीष्मादमुष्मा—
न्निजभुजमदमत्तारातिमाराङ्कवीरः ।
अभवदनवसानोद्भिन्ननिर्णिक्तनीति—
गुणनिबद्धमहिम्ना वेश्म हेमन्तसेन ॥१०॥

अचरमेति ॥ नास्ति चरमो द्वितीयो यस्य तथाभूते परमात्मनो ज्ञाने भीष्म इव अमुष्मात्ताम तसेनात् निजानां भुजानां मदेनाभिमानेन मत्ता येऽरातयस्तेषा

मारो मारणमङ्कश्चिह्नं यस्य स चाऽसौ वीर । नावसानमन्तं यथा तथोद्भिन्नाः स्पष्टा निरांशङ्का निर्मलास्ते ते प्रत्येक गुणास्तेषा निवहस्य समूहस्य महिम्ना वेश्म गृहं वासो हेमन्तसेनस्तत्पुत्रोऽभवत् । रूपकमलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥१०॥

मूर्द्धन्यर्द्धेन्दुचूडामणिचरणरजः सत्यवाक्कण्ठभित्तौ
शास्त्रं श्रोत्रेऽरिकेशा. पदभुवि भुजयोः क्रूरमौर्वीकिणाङ्क ।
नेपथ्यं यस्य जज्ञे सततमियदिदं रत्नपुष्पाणि हारा—
स्ताटङ्कं नूपुरस्त्रक्कनकवलयमप्यस्य भृत्याङ्गनानाम् ॥११॥

मूर्द्धनीति ॥ मूर्द्धनि शिरस्यर्द्ध इन्दुश्चन्द्र एव चूडाया मणिर्यस्य स शिवस्तस्य चरणरजो धारयति, कण्ठमेव भित्तिस्तस्या सत्यवाक्, श्रोत्रे कर्णयो. शास्त्रं, पदभुवि चरणतले ऽरीणा शत्रूणा केशाः, भुजयोः क्रूरा मौर्वी धनुर्ज्या तया किणः व्रणं तस्याङ्कश्चिह्नम्—एवमेव यस्य नेपथ्यमाभरण सततं जज्ञेऽभूत् । तेषु अङ्गेषु रत्नान्येव पुष्पाणि तानि मूर्द्धनि, हारा कण्ठे, ताटङ्कं कर्णाभरण कर्णयोः, नूपुरं पदयो., स्रग्माल्यं च भुजयो, एतान्याभूषणानि त्वस्य भृत्याङ्गनानामेव, दास्य एव धारयन्ति स्मैतानि । बाह्याभरणत्यागपूर्वकमान्तरगुणधारणरूपोऽर्थो व्यङ्ग्य ॥११॥

यद्दोर्वल्लिविलासलब्धगतिभिः शल्यैर्विदीर्णोरसा
वीराणा रणतीर्थवैभववशाद्दिव्य वपुर्बिभ्रताम् ।
ससक्तामरकामिनीस्तनतटीकाश्मीरपत्राङ्कित
वक्षः प्रागिव मुग्धसिद्धमिथुनैः सातङ्कमालोकितम् ॥१२॥

यदिति ॥ यस्य दोर्भुजावेव वल्ली तयोर्विलासेन लब्धा गतिर्यैस्तै. शल्यैः शस्त्रैर्विदीर्णमुरो येषा तेषा,पुन रणमेव तीर्थं तस्य वैभवस्समृद्धिस्तद्वशाद्धेतोर्दिव्य वपुः शरीर बिभ्रता धारयता वीराणाम् । प्रागिव पूर्वमेव, यथा पूर्वं रक्त प्रवहति स्म तथैवेदानीमपि । तेषु वीरेषु स्नेहातिप्रेम्णाऽऽसक्तानाममरकामिनीना देवाङ्गनाना स्तनतटीषु यत्काश्मीरपत्रं रक्तवर्णा कुङ्कुमरेखा तेनाङ्कितं वक्षः । मुग्धा भीता ये सिद्धास्तषा मिथुनै सातङ्क सभयमालोकित दृष्टम् । पूर्व शस्त्रैर्विदीर्णवक्षसा वीराणा वक्ष स यथा रक्तवर्णो ननु तथैवेदानी स्वर्गताना देवाङ्गनासक्ताना तत्सो

स धकुङ्कुमरक्तवर्णानां वर्णो वर्तते इति समयप्रसोकि। आन्तिमद्वयोर्वाच्यो दूरः ॥१२॥

प्रत्यर्थिव्ययकेलिकर्मणि पुरः स्मेरं मुखं बिभ्रतो—
रेवस्यैतदसेश्च कौशलममूद्दाने द्वयोरद्भुतम्।
शत्रोः कोऽपि दधेऽप्रसादमपरः सख्युः प्रसादं व्यधा—
देको हारमुपाजहार सुहृदामन्यः प्रहारं द्विषाम् ॥१३॥

प्रत्यर्थीति॥ प्रत्यर्थिनां शत्रूणां मित्राणां वा व्ययो विनाशो धनत्यागो वा यस्मिंस्तस्मिन् केलिकर्मणि। शत्रुनाशे मित्रमोदे चेत्यर्थः। पुरोऽग्र एव स्मेरं स्मितं मुखं बिभ्रतोर्धारयतोरेतस्य राज्ञश्चैतस्यासेः कृपाणस्य चैव द्वयोर्दाने दानविषयेऽद्भुतं कौशलमभूत्। कथमित्याह—कोऽपि कृपाणमित्यर्थः। शत्रोरप्रसादं दुःखं चकार अपरस्तु राजा सख्युर्मित्रस्य प्रसादं प्रसन्नतां व्यधादतनोत्। पुनरप्येको राजा सुहृदां मित्राणां तस्मिन्केलिकर्मणि हारमुपकण्ठहारोपहारत्वेनाददात्। अन्योऽप्यसिस्तु द्विषां शत्रूणां, 'सत्सूद्विष०' (३२६१) इत्यादिना क्विप्। प्रहारं घातमेवोपाहारत्वेनाददात्। यमककाव्यलिङ्गयोः संसृष्टिः ॥१३॥

महाराज्ञी यस्य स्वपरनिखिलान्तःपुरवधू—
शिरोरत्नश्रेणीकिरणसरणिस्मेरचरणा।
निधिः कान्तेः साध्वीव्रतविततनित्योज्ज्वलयशा
यशोदेवी नाम त्रिभुवनमनोज्ञाकृतिरभूत् ॥१४॥

महेति॥ यस्य यशोदेवी नाम महाराज्ञी स्वेषां च परेषां च शत्रुमित्राणामित्यर्थः। निखिलानां सर्वेषामन्तःपुरवधूनां शिरस्सु यानि रत्नानि तेषां श्रेण्याः पङ्क्तेः किरणानां सरण्यो मार्गास्तैः स्मेरौ प्रकाशितौ चरणौ यस्याः सा। सा च कान्तेः शोभाया निधिः, साध्वीनां पतिव्रतानां व्रतं तेन विततं विस्तीर्णं नित्यमुज्ज्वलं च यशो यस्यास्तथाभूता। पुनस्त्रिषु भुवनेष्वपि मनोज्ञा कमनीयतमाऽऽकृतिर्यस्या एवम्भूता साऽभूत्। अनुप्रासोऽप्रस्तुतरूपकञ्च। शिखरिणी वृत्तम् ॥१४॥

साम्प्रतमस्य सूनुं विजयसेनं वर्णयति—

ततश्चिजगदीश्वरात्समजनिष्ट देव्यास्ततो
ऽप्यरातिनिवहशातनोज्ज्वलकुमारकेलिक्रमः ।
चतुर्जलधिमेखलावलयसीमविश्वम्भरा--
विशिष्टजयनामान्वयो विजयसेन पृथ्वीपतिः ॥१५॥

तत इति ॥ ततस्तस्मात्त्रिजगदाऽधीश्वरात्सामन्तसेनात् तस्या देव्याश्च, अरातीनां शत्रूणां बलस्य शातनेन विनाशेनोज्ज्वलः कुमारोचितः कालकेलिः क्रीडामार्गो यस्य तथाभूतः । चतुर्णां जलधीनामेव मेखलावलयं काञ्चीदाम तस्य सीमा पारे वर्षस्यास्तथाभूताया विश्वम्भराया पृथिव्या विशिष्टो जय इति 'विजय' नामयोग्यः । तेन सान्वयोऽन्वर्थनामा विजयसेनश्चासौ पृथ्वीपतिश्च समजनिष्ट सञ्जातः । जनेर्लुङि सिच् ॥१५॥

गणयतु गणशः को भूपतींस्ताननेन
प्रतिदिनरणभाजा ये जिताः वा हता वा ।
इह जगति विषेहे स्वस्य वंशस्य पूर्वः
पुरुष इति सुधांशौ केवलं राजशब्दः ॥१६॥

गणयत्विति ॥ प्रतिदिन रणं भजते स्वयति तेनानेन राज्ञा ये भूपतयो जिता ये वा हतास्तान्भूपतीन्गणशः समुदायेन को गणयतु ? न कोऽपीत्यर्थः । तथा चानेन स्वस्य वंशस्य पूर्वः प्रथमः पुरुषश्चन्द्रवंशत्वात् (श्लो० ३) । इत्येव ज्ञात्वेह जगति केवलं सुधांशौ चन्द्रमस्येव राजेति शब्दो विषेहे सह्यते स्म । 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्' (८-३-७०) इति षत्वम् । सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति श्रुतेः । अन्ये तु राजानस्तेन विनष्टा एवेत्यस्य चक्रवर्तित्वं द्योत्यते ॥१६॥

सङ्ख्यातीतकपीन्द्रसैन्यविभुना तस्यारिजेतुस्तुला
किं रामेण वदाम पाण्डवचमूनाथेन पार्थेन वा ।
हेतोः खड्गलतावतंसितभुजामात्रस्य येनार्जितं
[illegible]म्भोधितटीपिनद्धवसुधाचक्रैकराज्यं फलम् ॥१७॥

सद्र्येति ॥ तस्यारिजेतु शत्रुविजयिनःतुलामुपमाम्। तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम् (२ ३ ७२) इति षष्ठी। किं सद्र्यामतीता। द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२ १ २४) इति द्वितीयासमास। त च कुपीभ्रास्तेषां सैन्यस्य विभुना स्वामिना रामेण सदाम किं वा पाण्डवानां चमूस्तेना तस्या भावेन पार्थेनाऽनुनम वा सदामेति स देह। रम दृष्ट्वा ऽप्र तता, तथाऽवस्थिता शोभिता भुजैव तस्य। खड्गयुक्तहस्तस्यैवेति भाव। तद्दर्शनो फल तु समानामम्भोधीनां तटी पिनद्धा धता वस्त्राद्दर्पेण यया मखुषया तस्यास्तक मण्डलमेवैकराज्य तथाभूतमर्जितम्। अत्रस्य कारणस्यानल्पफलत्वाद्विभावनालङ्कार ॥१७॥

एकेकन गुणेन य परिणत तेषा विवकाद्रते
कास्चिद्धन्त्यपरस्च रक्षति सृजत्य यस्च कृत्स्न जगत्।
सोऽय तु गुणी कृतो बहुतिथैर्धीमान् ऋणान द्विपो
वृत्तस्थानपुपच्चकार च रिपूच्छेदन दिव्या प्रजा ॥ १८ ॥

एकेति ॥ येस्तदेवैरकेकन प्रत्यक्षमन्न गुणेन इत्स्न जगत्पारयात प्रवर्तितं, तथा देवानाम्। कतस्य निर्धारणम् (२ ३ ४१) इति षष्ठी। विवेकान्त निर्विवेक कर्तव्याभाव विचिन्त्य कास्चिद्धन्ति—शिव अपरो रक्षति—विष्णु कन्यस्च सृजति—ब्रह्मा एष तु सयो धीमान्तवकी हन्। बहुना पूरण बहुतिथ। 'तस्य पूरणे डट्' (५ २ ४८) इति डटि परत बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् (५ २ ५२) इति तिथुगागम। गुणे कृत, यतो ह द्विषा शत्रुन्हनन्, वृत्तस्थानस्वमण्डलपालितोऽभूत, रिपूणामुच्छेदेन च दिव्या प्रजा स्वगंप्राप्तवकार सृष्टवान्। त्रिदेवाना तु प्रत्येकमेको गुण, अस्य तु सर्व गुणा एकत्रेति विशेष ॥१८॥

दत्त्वा दिक्षु भुव प्रतिक्षितिभृतामुर्वीमुरीकुर्वता
वीरासृग्विपिलाक्लिन्नतोऽसिरमुना प्रागेव पत्नीकृत।
नेत्थ चेत्कथमन्यथा वसुमती भोगे विवादोन्मुखी
तत्राकृष्टकृपाणधारिणि गता मज्जु द्विषा सततिं ॥१९॥

दत्त्वेति ॥ प्रतिगतमनो विरोधिनो दिक्षितिभृतो नृपणां दिक्षु भुवो दत्त्वा।

तान्नुद्धे स्वर्गं प्रेषितेत्यर्थः । तस्य स्थाने चौर्यां पूर्वमनुरक्तिर्वर्तता स्वीकृतवता ऽनुना । शत्रुषु स्वर्गतेषु तेषां राज्यं तेनाधिकृतमित्यर्थः । अतएव नियतविजिगीषुत्वाद्विति भावः । वीरनान्यस्यैव तिमिरनाम ताम्बुलो तिमिरोऽहिः पत्रीकृतः । पत्रं राजकीयमुद्रयाधारते[illegible]पेण सम्पादितः । न चेदन्यथा भोगे भोगविषये विवादोन्मुखी कृतविवादा बहुमतो कथमिव्यं तद्धीना स्यात् । अनन्तरं भोगविषये अकृष्टं कृपाणं (पत्रं) धारयेत्तु सीतं यस्य तस्मिन्नाजौ द्विधा कर्तितमिव गता पराजिता । अतएव पत्रे लिखते सति, विवादे सम्पूर्णे पूर्णा तदधीना बभूव शत्रुपक्षस्य पराजितः । तत्कीर्तिमिहेदं पत्रमात्रात् । अतएव पत्रे न लिखने पूर्णा तदधीना नाऽभविष्यदिति भावः । उक्तञ्च—विवादेऽन्विष्यते पत्रम् । व्यञ्जनावलितोऽयं श्लोकश्चमत्कारपरः ॥१९॥

त्वं नान्यवीरविजयीति गिरः कवीनां
श्रुत्वाऽन्यथा मननरूढनिगूढरोषः ।
गौडेन्द्रमद्रवदपाकृत कामरूप—
भूपं कलिङ्गमपि यस्तरसा जिगाय ॥२०॥

त्वमिति ॥ त्वं नान्यस्य वीरस्य वीरवरस्य च विजयी अर्दीति कवीना गिरः श्रुत्वा अन्यथा[illegible] मननात् रूढः । तद्यथा—अनन्यवीरविजयी नर्दीति । नतः अतो यतो निगूढो गुप्तस्य रोषः क्रोधस्तथाभूतो यस्तरसा शीघ्रमेव अन्यवीरविजयीति प्रमाणयन् तु गौडेन्द्रमद्रमपराजितवान्, कामरूपभूपं चापकृत स्वीचकार । अपाङ्पूर्वकस्य कृञो 'गन्धनावक्षेपण०' (१-३-३२) इत्यादिना ऽऽत्मनेपदमप्राप्तम्, तुक् शित् 'ह्रस्व' (१-१-१०) इति कित्वात् सकारलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्' (८-२-२७) इति सलोपः । कलिङ्गमपि जिगाय जितवान् । 'सन्लिटोर्जेः' (७-३-५७) इति कुत्वम् । एवम्भवान्नान्यवीरविजयी बभूवेति भावः ॥२०॥

दूरस्थमस्य इवासि नान्य किमिह त्वं याचक इलाक्ले
स्पर्धां वहन् हुरुव वीर चिरवो नाद्यापि दर्पस्तव ?

इत्यन्योन्यमहर्निशं प्रणयिभिः कोलाहलैः क्ष्माभुजां
यत्कारागृहयामिकैर्नियमितो निद्रापनोदक्लमः ॥२१॥

शूरमिति ॥ आत्मानं शूरं मन्यते इति शूरम्मन्य । 'आत्ममाने खश्च' (३ २ ८३) इति खशि 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६ ३ ६७) इति मुमागमः । स एव हे नान्य ! त्वमसि । हे राघव ! त्वमिह स्वमात्मानं किं श्लाघसे प्रशंससे पुनो न रणे कौशलं प्रदर्शितम् ? हे वर्द्धन ! त्वं स्वकीयां स्पर्द्धां परैश्वर्यासहनजां पराभिभवेच्छां मुञ्च त्यज । हे वीर ! ते दर्पोऽद्यापि न विरतो ध्वस्त ? इत्येवं प्रकारैरन्योन्यं परस्परमहर्निशं प्रणयिभिरस्यमानैः क्ष्माभुजां तेन बन्दीकृतानां भूपालानां कोलाहलैर्यस्य कारागृहस्य यामिकैर्यामे नियुक्तैः प्रहरिभिरित्यर्थः । 'तत्र नियुक्तः' (४ ४ ६९) इति ठञ् । निद्राया अपनोदो विनाशस्तस्मिन्यः क्लमः श्रमः स नियमितोऽपाकृत । तत्तद्राजध्वनिभिस्ते प्रसन्ना सन्तः प्रहरिणो निद्राक्षयेऽप्यश्रान्ता एवेतिभावः ॥२१॥

पाश्चात्यचक्रजयकेलिषु यस्य यावद्
गङ्गाप्रवाहमनुधावति नौवितानं ।
भर्गस्य मौलिसरिदम्भसि भस्मपङ्क—
लग्नोज्झितेव तरिरिन्दुकला चकास्ति ॥२२॥

पाश्चात्येति ॥ पश्चाज्जातम्पाश्चात्यं पश्चिमम् । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' (४ २ ९८) इति त्यक् । तत्रत्यानां चक्राणां राज्यानां जय एव केलिः क्रीडा तेषु नावां नौकानां विताने समूहे यस्य तरिर्नौका यावद्गङ्गाप्रवाहमनुधावति तावत्सा नौर्भर्गस्य शिवस्य मौलौ स्थिता या सरिद् गङ्गा तस्या अम्भसि जले भस्म एव पङ्कस्तस्मिँल्लग्ना पुनरुज्झिता मुक्ता । सुप्सुपेति समासः । इन्दुकलेव चकास्ति शोभते । जयकेलिषु देनाख्य जययात्रा जलकेलिवदेव सरलेति सूच्यते ॥ कीलहरणमहोदयस्तु तरिमेवोपमानमिन्दुकलाञ्चोपमेयं मन्यते, तन्न जययात्रायां तरेरेव प्रस्तुतवस्तुत्वात् । उपमालङ्कार. ॥२२॥

मुक्ता कर्पासबीजैर्मरकतशकलं शाकपत्रैरलाबू—
पुष्पै रूप्याणि रत्नं परिणतिभिदुरैः कुङ्कुमिदाडिमानाम् ।

कुष्माण्डीवल्लरीणां विकसितकुसुमैः काञ्चनं नागरीभिः
शिक्ष्यन्ते यत्प्रसादाद्बहुविभवजुषां योषितः श्रोत्रियाणाम् ॥२३॥

मुक्ता इति ॥ यस्य राज्ञः प्रसादाद्बहुविभवं जुषन्ते सेवन्त इति तेषां, प्राप्तबहुधनानामित्यर्थः । श्रोत्रियाणां वेदाध्यायिनां योषितः स्त्रियो नागरीभिर्नगरवासिनीभिर्नारीभिश्चतुराभिरित्यर्थः । शिक्ष्यन्ते ज्ञातुम् । मुक्ताः कर्पासानां बीजैः, मरकतस्य शष्पखण्डैः शाकपत्रैः, रूप्याणि अलाबूनां (लौकी) पुष्पैः श्वेतत्वात्, रत्नं दाडिमानां परिणत्या भिदुरैर्विच्छिद्रैः । 'विदाभिदिच्छिदेः कुरच्' (३-२-१६२) कुक्षिभाजैः, काञ्चनं कुष्माण्डीनां (कुम्हड़ा) वल्लरीणां लतानां विकासितैः कुसुमैः जानन्ति स्म । श्रोत्रियाणां स्त्रियो रत्नादीनां परिज्ञानेऽसमर्थाः सत्यो नगरस्त्रीभ्यः सकाशात्सादृश्येनोपमानप्रमाणेनैतेषां ज्ञानं कुर्वन्तीत्यर्थः । एतेन राज्ञो बहुदानशीलत्वं ग्रामस्त्रीणां मुग्धात्वं च व्यज्यते ॥२३॥

अश्रान्तविश्राणितयज्ञयूपस्तम्भावलीं द्रागवलम्बमानः ।
यस्यानुभावाद्भुवि सञ्चचार कालक्रमादेकपदोऽपि धर्मः ॥२४॥

अश्रान्तेति ॥ यस्यानुभावाच्छक्त्या कालस्य क्रमात्परिवर्तनादेकपदः खञ्जः, कलौ युगे त्वेकचरणोऽपि सन्धर्मः भुवि पृथिव्याम् । न श्रान्तं रुद्धमित्यश्रान्तं निरन्तरमिति यावत् । विश्राणितं सम्पादितं पुरस्कृतो वा यज्ञस्तस्य यूपस्य स्तम्भानामवली पङ्क्तिम् । अवलिशब्दो दीर्घो ह्रस्वो वा । तामेव द्रागझटित्यवलम्बमानः सन् सञ्चचाराचरत् । राज्ञो निरन्तरयज्ञसम्पादनं सूच्यते ॥२४॥

मेरोराहतवैरिसङ्कुलतटादाहूय यज्वामरान्
व्यत्यासं पुरवासिनामकृत यः स्वर्गस्य मर्त्यस्य च ।
उत्तुङ्गैः सुरसद्मभिश्च विततैस्तल्लैश्च शेषीकृतं
चक्रे येन परस्परस्य च समं द्यावापृथिव्योर्वपुः ॥२५॥

मेरोरिति ॥ आहता वैरिणस्तैः सङ्कुलं व्याप्तं तटं यस्य तस्मान्मेरोरमरान्देवानाहूयासौ यज्वा विधिनेष्टवान्सः स्वर्गस्य मर्त्यस्य च पुरवासिनां व्यत्यासं

विनिमन, स्वार्थो ऽत्यन्तमह । इहत्या गीरोऽस्व स्वग प्रोक्तेति भाव । अस्तु चरार । स्वारेतेजित कन्याभिप्राये कथाफले (१२७२) इत्यादमनपदम् । उत्तरैरधिकीनन्ते तुङ्गभूमिदेवालयस्य त्रितलावस्तीर्णैस्तल्लै सातैस्तडागैश्च धारागृहव्योरशाले इत्यादि वपु परम्परस्य येन राज्ञा सर्व चक्र कृतम् । स्थानविस्तीर्णावरोपर भूरत्नतलेन बभूव स्वर्गस्योत्कृष्टमन्दिरैरधिकत्वेन । परस्परमवसुमयो जैन सम बभूवेति भाव । अनेन भूलोक एव स्वर्ग इव इति व्यज्यते ॥१५॥

अस्य मन्दिरनिर्मितिमाह—

द्विक्शाखामूलकाण्डं गगनतलमहाम्भोधिमध्यान्तरीय
भानो प्राक्प्रत्यगद्रिस्थितिभिरुदयास्तस्य मध्याह्नराज्यम् ।
आलम्बस्तम्भमेरु त्रिभुवनभवनस्यैकराज गिरीशा
स प्रद्युम्नेश्वरस्य व्यधित वसुमतीवासव सौधमुच्चै ॥२६॥

दिगिति ॥ दिश एव शाखा यत्र (यस्य) मूलं काण्ड प्रधान भागश्च यस्य तत् । गगनतलमेव महाम्भोधि स च स यस्य मध्य यावरीयमुच्चैस्तमो भागस्य । प्राक्पूर्वश्च प्रत्यक्पश्चिमश्च तत्र योऽद्रि पर्वतस्तस्य स्थितौ स्थाने मिलति प्राप्यत, तत्स्थान स्पृशतीति कश्चित् । उदयश्चास्तश्च यस्य तथाभूतस्य भानो सूर्यस्य मध्याह्नस्थितिर्यथा तथेति बोधकं राज्यम् । त्रिभुवनमेव भवन तदेकस्तम्भाय स्तम्भस्तम्भम् । गिरीशामेकरोप मेनाकस्तम्भ अर्थ । स इवेश्मवे गगनसमुद्रमध्यमित्यादि । एवम्भूतं प्रद्युम्नेश्वरस्योच्च सध प्रासाद मन्दिरं स वसुमतीवासव पृथिवीराजो व्यधत निर्मितवान् । विरूपकाय घातो लुङ् सिद्धान्तेन पदस्य 'स्थाघ्वोरिच्च (१२—१) इत एवे किते च गात्र (८—२७) इति सलोप । रूपकमलंकार ॥२६॥

प्रासादेन तवामुना हरिणमध्या निरुद्धो सुधा
भानोऽपाचि कृतोऽस्ति दक्षिणदिश कोणान्तवासी मुनि
अन्यामुत्तरपथोऽयमुच्चतु दिशं विन्ध्योऽन्यसौ वर्द्धतो
यावच्छक्ति तथापि नास्य पदवीं सौधस्य गाढ

प्रासादेनेति ।। हे भानो, सूर्य, तव हरितामश्वानामध्वा मार्गोऽमुना प्रासादेनैव निरुद्धो नान्येन केनचिद् विन्ध्यादिना । मुधा व्यर्थमेव मुनिरगस्त्यस्त्वया दक्षिणस्या दिशः कोणस्यान्ते निकटे उषितुं शीलमस्य तथाभूतः कृतः । उद्धृतो नष्टः शपथो यस्य स उत्क्रान्तपथः सन्नन्यामुत्तरां दिशमृच्छतु गच्छतु । असौ विन्ध्योऽपि यावती शक्तिस्तावन्मात्रं, 'यादवधारणे' (२-१-८) इत्यव्ययीभावः । वर्द्धताम् । तथापि सौधस्यास्य पदवीं मार्गं न गाहिष्यते प्राप्स्यति । विन्ध्यः किलागस्त्यशिष्योऽतीवोत्तुङ्गः सन् सूर्यस्याध्वानमवरुणद्धि स्मेति सूर्यप्रार्थितोऽगस्त्यो विन्ध्यसमीपमगात् । विन्ध्यस्तं नमस्कर्तुं भुवि यावन्नमति तावदेवर्षिणा शपथे बद्धो यदगस्त्यस्य दक्षिणादिशः प्रत्यावर्तनं यावदेष तथैव स्थितः स्यादगस्त्यस्तु दक्षिणतो नाद्यापि प्रत्यावृत्त इति रामायणी कथाऽनुसन्धेया (३-११) । प्रासादोऽयं विन्ध्यादप्युच्चैस्तर इति भावः । उपमानस्य तिरस्कारात्प्रतीपमलङ्कारः ।।२७।।

स्रष्टा यदि भ्रमयति भूमिचक्रे सुमेरुमृत्पिण्डविवर्तनाभिः ।
तदा घटः स्यादुपमानमस्मिन्सुवर्णकुम्भस्य तदर्पितस्य ।।२८।।

स्रष्टेति ।। यदि स्रष्टा भूमिरेव चक्रं (चाक) तस्मिन्सुमेरुरेव मृत्पिण्डं तस्य विवर्तना सञ्चालनं ताभिः भ्रमयति घटमिति शेषः । तदास्मिन्मन्दिरे तेन राज्ञाऽर्पितस्य सुवर्णकुम्भस्योपमानं तथोक्तो घटः स्यात् । अतिशयोक्तिः । यथा च—'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' (कुमार० ११४४), 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्०' (शि० व० ३।८) ।।२८।।

बिलेशयविलासिनीमुकुटकोटिरत्नाङ्कुर—
स्फुरत्किरणमञ्जरीच्छुरितवारिपूरं पुरः ।
चखान पुरवैरिणः स जलनग्नपौराङ्गना—
स्तनैणमदसौरभोच्चलितचञ्चरीकं सरः ।।२९।।

बिलेशयेति ।। स पुरवैरिणः प्रद्युम्नेश्वरस्य पुरोऽग्रे । बिले शेरत इति बिलेशयाः सर्पास्तेषां विलासिनीनां पत्नीनां मुकुटेषु कोटिभी रत्नाङ्कुरैः रत्नखण्डैः स्फुरन्तः किरणास्तेषां मञ्जरी ताभिश्छुरितमावृतं वारि तस्य पूरः पूर्त्तिर्यस्मिँस्तन्-भूतं, पुनर्जलेषु मग्नानां पौराङ्गनानां स्तनेषु, एणो मृगविशेषस्तस्य मदः

कस्तूरीति भाव । तस्य सौरभेण गन्धेनोच्चलिता आकृष्टाश्चञ्चरीका यस्मिंस्ता-थाभूत सरस्वद्वात धान्यामामित्यर्थः ॥२६॥

उञ्चित्राणि दिगम्बरस्य वसनान्यद्धाङ्गनास्वामिनो
रत्नालङ्कृतिभिर्विशेषितवपुश्शोभा शतं सुभ्रुव ।
पौराश्चश्च पुरो श्मशानवसतेर्भिक्षाभुजोऽस्याज्ञया
लक्ष्मी स व्यतनोद्दरिद्रभरणे सुज्ञो हि सेनान्वय ॥२७॥

उञ्चिति ॥ दिश एवाम्बरमस्य दिगम्बरस्तस्य शिवस्योच्चिनाएं वसनानि वस्त्राणि व्यतनोत् विचार सम्पद्य । अर्धाङ्गनाया स्वामिनोऽर्द्धनारीश्वरस्य शिवस्य रत्नैरलङ्कृतिभिश्च विशेषिता वर्द्धिता वपुषा शरीराणां शोभा याभिस्ता सुभ्रुवो नारीः शतं व्यतनोत् । श्मशानवसतिर्निवासो यस्य तस्य पौरैर्नागरिकै राज्ञा सवृद्धा पुरी व्यतनोत् कौशिकपुरी भान्दनिति स्वयत्नात । भिक्षां भुनक्तीति तस्य शिवस्य हस्तेऽज्ञया लक्ष्मीं श्रियं व्यतनोत् । एवं स सेनानामेतद्वपाख्यानाम वंशो दरिद्राणां भरणे पोषणे हि सुज्ञश्चतुर ॥२७॥

चित्रक्षौमेभचर्मा हृदयविनिहितस्थूलहारोरगेन्द्र
श्रीखण्डक्षोदभस्मा करमिलितमहानीलरत्नाक्षमाल ।
वपस्तेनास्य तन गरुडमणिलसद्गोनस कान्तमुक्ता-
नेपथ्यव्युत्थितिच्छासमुचितरचन कल्पकपालिकस्य ॥२८॥

चित्रेति ॥ तेन राज्ञाऽस्य, कल्पे प्रलये कपालधारिणो हरस्येच्छया समुचिता रचना यस्य स वेषस्तेन सम्पादित । किम्प्रकारः ? चित्रं चर्म पट्टमयं वर मेचेभस्य गजस्य चर्म यस्मिन् । शिवः क्षौमं वस्त्रमेव गजचर्म मन्यत इति भाव । हृदय विनिहित स्थापित स्थूलो हारो महाद्भोरगाणा सर्पाणामिन्द्रो यस्मिन्स । श्रीखण्डचन्दनस्य क्षोदश्चूर्णमेव भस्म यस्मिन्स । कर मिलितानि ग्रथितानि महानीलरत्ना यवाक्षमाला यस्य स । गरुडमणिना लसैव गोनस सर्पविशेषो यस्मिंस्तथाभूत । कान्ताना सुन्दरीणां मुक्तीनां नेपथ्य-माभरणमेव नरस्यास्थि यस्मिन्स । एवं हि वानुकूलमेव वेष सम्पादितं ॥ १॥

वाहोः केलिभिरद्वितीयकनकच्छत्रं धरित्रीतल—
कुर्वाणेन न पर्य्यशेषि किमपि स्वेनैव तेनेहितम्।
किं तस्मै दिशतु प्रसन्नवरदोऽप्यर्द्धेन्दुमौलि पर—
स्व सायुज्यमसावपश्चिमदशायां पुनर्दास्यति ॥३२॥

वाहोरिति ॥ तेन स्वेनात्मनैव वाहोः केलिभिः क्रीडाभिर्धरित्रीतलं न द्वितीयमेकं कनकस्यच्छत्रं यस्य तन्नास्ति एकराज्यं कुर्वाणेन किमपीहितमिष्टं न पर्य्यशेषि, प्रत्युत सर्वमेवाप्नोत पूर्णम्। इदानीं तस्मै प्रसन्नस्वान्तो वरदः अर्द्धेन्दुमौलिरपरं परमधिकं किं दिशतु ददातु? पुनरसौ, न पश्चिमस्या दशायामपि तस्मिन्नन्तकाले प्राणेनेति भाव। स्वं सायुज्यमात्मन्येकीभावमेव केवलं दास्यति। सर्वसाधनसम्पन्नस्य शिवस्यापि तस्य वरदानेऽसमर्थत्वम् ॥३२॥

कविः स्वाभिमानं परिहरति—

प्रस्तोतुमस्य परितश्चरितं क्षमः स्या—
त्प्राचेतसो यदि पराशरनन्दनो वा।
तत्कीर्तिपूरसुरसिन्धुविगाहनेन
वाचः पवित्रयितुमत्र तु नः प्रयत्नः ॥३३॥

प्रस्तोतुमिति ॥ अस्य चरितं परितः सर्वतः प्रस्तोतुं प्राचेतसो वाल्मीकिर्यदि वा पराशरनन्दनो व्यासः क्षमः स्यात्। अत्र नोऽस्माकं प्रयत्नस्तु तस्य कीर्तेर्यः पूरः पूर्तिः स एव सुरसिन्धुर्गङ्गा तस्मिन्विगाहनेन स्नानेन वाचः पवित्रयितुमेवैतत्कीर्तिगानेन वाचो मे पूयन्ताम्। तथा च नैषधे—'पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे (१।३). इति ॥३३॥

यावद्वास्तोस्पतिपुरधुनी भूर्भुवःस्वः पुनीते
यावच्चान्द्री कलयति कलोत्तंसतां भूतभर्तुः।
यावच्चेतो गमयति सतां श्वेतिमानं त्रिवेदी
तावत्तासां रचयतु सखी तत्तदेवास्य कीर्तिः ॥३४॥

यावदिति ॥ यावद्वास्तोस्पतेरिन्द्रस्य पुरस्य धुनी नदी गङ्गा भूर्भुवःस्वः पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गाणि पुनीते पवित्रयति, यावच्चन्द्रस्येयं चान्द्री कला भूतभर्तुः शिव-

स्योम सदा शिरोभूषण कलयति रचयति यावन्नयणा वेदाना समाहारस्त्रिवेदी सर्वा चेतो नभः श्वेतिमान धवनव गमयति धवलयतीत्यर्थ । तावत्तासा तयोह्रयना मणी मित्रमस्य कीर्तिरपि तत्रैव वस्तु रचयतु । पावयतु शोभा वर्द्धयतु, प्रकाश यत्विति भाव ॥३४॥

निर्णिक्तसनकुलभूपतिमौक्तिकाना—
माग्रन्थिलग्रथनपद्मलसूत्रवल्लि ।
एषा कवे पदपदार्थविचारशुद्ध—
शुद्धे रमापतिधरस्य कृति प्रशस्ति ॥३५॥

निर्णिक्तेति ॥ निर्णिक्ता स्वच्छाश्च ते सेनकुलस्य भूपस्य एव मौक्तिकानि तेषाम् । अग्रन्थिल निर्ग्रन्थ सरल च तद्ग्रथन काव्यरचना तदेव पद्मल, नमनयो पद्मैव सुन्दर सूत्र तस्य वल्लिलता तद्रूपा प्रशस्ति पदस्य पदार्थस्य च विचा-रेण शुद्धा बुद्धियस्य तस्य कवे रमापतिधरस्य कृति ॥३५॥

धर्मप्रणप्ता मनदासनप्ता बृहस्पते सूनुरिमा प्रशस्तिम् ।
चखान वारेन्द्रकशिल्पिगोष्ठीचूडामणी राणकशूलपाणि ॥३६॥

धर्मेति ॥ धर्मस्य प्रणप्ता प्रपौत्रो मनदासस्य पौत्र बृहस्पते सूनु पुत्रो वारेन्द्र कस्योत्तरवङ्गस्य शिल्पिना गोष्ठीना सभाना चूडामणि रव राणकशूलपाणिर्नाम खनक इमा प्रशस्ति चखान ॥३६॥

॥ इति श्रीमतामिभाजनमहेश्वप्रसादस्यैककर्मकाण्डप्रस्तावित पौत्रेण षष्ठी प्रसादस्यानुजमवरुद्ध नशहिरलिन पुत्रेणार्पीते थ्यातेन बालकविनोभाश्वरेण रचिते [illegible] विजयसेनप्रशस्तिव्याख्या प्रभावत्या समाप्तिमगात् ॥

— —

हिन्दी-अनुवाद

ॐ ॐ शिव को नमस्कार। [अपनी] छाती पर के वस्त्र हटाने पर, डर के कारण मींची गई [illegible] की छाती में, रतिगृह के दीपक की ज्योति को मन्द करनेवाली देवी के मुँह को देखकर, जो (मुख) चन्द्रमा के प्रकाश के कारण लज्जा से मुरझा गया था, शिव के हँसते हुए (पाँचों) मुखों की जय हो ॥१॥ जो लक्ष्मीपति (विष्णु) और उमापति (शिव) के एक होने का लीलागृह है, उस 'प्रद्युम्नेश्वर' शब्द से अभिहित भवन को [हम] प्रणाम करते हैं। जहाँ आलिंगन छूट जाने के भय से दोनों प्रियतमों के बीच बैठकर, दोनों देवियों ने [क्रम-से-क्रम] उन (हरि-हर) का अभिन्न शरीर छिपानेवाली लीला में तो [उनके एकत्व में] रुकावट डाल दी ॥२॥

अमृत की किरणोंवाले (चन्द्र) प्रथमराजा की जय हो, शिव का [illegible] जटासमूह ही जिसका सिंहासन है, गंगा के जलकण रूपी मंजरी के समूह से जिसे चँवर डुलाते हैं तथा उजले और फैले हुए फण के आवर्त से युक्त, शिव के सिर पर [illegible] करनेवाला, ज्योत्स्ना-सा साँप ही जिसका छत्र है ॥३॥ देवांगनाओं की लगातार रतिक्रीड़ा की साक्षी देनेवाले (स्वर्गीय) उस [राजा] के वंश में, दाक्षिणात्य के नरेश तथा चारों तरफ कीर्तिवाले वीरसेनादि हुए, जिनके चरित्र के स्मरण से परिचित होने के कारण पवित्र, सूक्ति-रूपी मधु की धारायें, व्यास ने, संसार के कानों में देकर प्रसन्न करने के लिए बहाईं ॥४॥

उस सेनवंश में, सैकड़ों विरोधी वीरों के नाश-रूपी कीर्ति का प्रकाशक (या नाशक और ब्रह्मविचारक), ब्रह्मक्षत्रिय कुल का शिरोमणि सामन्तसेन हुआ जिसके युद्ध की कथायें, उछलते हुए समुद्र-जल की चंचलता से शीतल, सेतुबन्ध

(रामेश्वर) के किनारों पर, अप्सरायें श्रीरामचन्द्र की स्पर्धा से गाती हैं ॥५॥ जिस रणांगन में जोर शोर से आवाज करनेवाले डंके से बुलाये गये शत्रु वर्ग पर, उसने [अपने] हाथों से तलवार-रूपी सुन्दर साँप को खेलाया वह (आँगन) आज भी शत्रुओं के विच्छिन्न (तितर-बितर) हुए हाथियों के झुंड के चीरे हुए कपोलों से निकले मोती रूपी बड़ी-बड़ी कौड़ियों के समूह से भरा हुआ है ॥६॥ शत्रुओं की सुन्दरियों के प्रयाण के पीछे लगा हुआ उसका यश एक घर से दूसरे घर में पहुँचा नगर नगर में चलने लगा, वन-वन में दौड़ने लगा, वृक्ष वृक्ष तक घूम गया पहाड़-पहाड़ पर ठहरा तथा एक समुद्र से दूसरे में तैरने लगा ॥७॥ विष्णु के समान वीर उस (सामन्तसेन) ने शत्रुकुल से ढँकी कर्णाट देश की लक्ष्मी के दुराचारी लुटेरों का ऐसा विनाश किया कि प्रेतों के स्वामी (यम) प्रजा को प्रसन्न करके, आज भी, अक्षय मद्य मांस और चर्बी की सुविधावाली दक्षिण दिशा को नहीं छोड़ते ॥८॥ जिसने अपनी अन्तिम अवस्था में गंगा के किनारे पर के वनों में स्थित उन पुण्यप्रद आश्रमों में निवास किया था जो घी के धुएँ से सुगन्धित थे, जहाँ हरिणों के बच्चों के द्वारा अपने स्तन का दूध पिये जाने पर भी तपस्वियों की स्त्रियाँ प्रसन्न रहती थीं, जहाँ सुग्गे वेदपाठ से परिचित थे और पुनर्जन्म के भय से खिन्न परिव्राजक जिनके बीच में भरे रहते थे ॥९॥

अद्वितीय परमात्मा के ज्ञान में भीष्मतुल्य उस (सामन्तसेन) से हेमन्तसेन हुआ जो अपने भुजबल से मतवाले बने हुए शत्रुओं को मारनेवाला वीर था तथा अनन्त स्पष्ट और निर्मल प्रत्येक गुण-समूह की महिमा का घर था ॥१० ॥ सिर पर अर्धेन्दु को चूड़ामणि बनानेवाले (शिव) की चरण धूलि कंठ रूपी दीवाल में सत्यवाणी, कान में शास्त्रवाक्य, चरणभूमि में शत्रुओं के केश, भुजाओं में कठोर धनुष की रस्सी का व्रणचिह्न—सदैव इस प्रकार के ही जिसके आभूषण हुए, रत्नपुष्प हार कर्णफूल नूपुर, सोने का कंगन—ये तो उसकी रानियाँ पहनती थीं ॥११॥ जिसकी भुजारूपी लताओं के विलास से चलनेवाले शस्त्रों से छाती फाड़े जानेपर रणरूपी तीर्थ के वैभव से दिव्य शरीर धारण करनेवाले वीरों की छाती को, लिपटी हुई देवांगनाओं के स्तन पर की कुंकुम-रेखा से युक्त होने पर भी, भीरु स्त्रियों के झोंक, उसे पहले के समान ही भयभीत होकर देखते थे ॥१२॥

रविकीर्तिकृत

ऐहोलशिलालेख

(Aihole Inscription of Pulikesin II

(सानुवाद)

प्रो० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि'
संस्कृत-विभाग
पटना कॉलेज, पटना

प्रथम संस्करण १९६०

प्रकाशक
पं० षष्ठी प्रसाद शर्मा
ग्रा० + पो० — पोन्दिल
मगडल — गया

एम० ए० की पाठ्य-पुस्तक

जुलाई — १९६०

मुद्रक
स्पार्क प्रेस प्रा० लि०, पटना — ६

भूमिका

आज पाठकों के समक्ष शिलालेखमाला के तृतीय-पुष्परूप मे ऐहोलशिलालेख को रखते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। न केवल एम० ए० (संस्कृत तथा प्रत्न भारतीय इतिहास) के छात्रों के लिए, अपितु साहित्य और इतिहास के सामान्य पाठकों के लिए भी यह लेख बड़ा महत्वपूर्ण है। एक तो शिलालेखो की पुस्तकें सम्प्रति दुर्लभ हो ही गई हैं, दूसरे, हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने पर भी अभीतक विद्वानों का ध्यान शिलालेखों को हिन्दी में लाने की ओर नहीं गया है। हर्ष का विषय है कि श्रीजयचन्द्रविद्यालंकार-जैसे इतिहास के अधिकारी-विद्वान् ने 'उत्कीर्णलेखाञ्जलि' मे पॉच संस्कृत-प्रशस्तियों को हिन्दी मे लाने का स्तुत्य-प्रयास किया है। हिन्दी की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए हमे इस ओर जोर-शोर से लग जाना होगा।

प्रस्तुत-शिलालेख सप्तम-शती के दक्षिण-भारत के राजनैतिक इतिहास पर बहुत अधिक प्रकाश डालता है। इस दृष्टि से इसका वही महत्त्व है जो उत्तर-भारत के लिए समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भलेख का। यह लेख बम्बई राज्य के बीजापुर-जिले मे ऐहोल नामक स्थान में मेगुती नाम के एक जैन मन्दिर मे मिला है। पाषाण के फलक पर इसमें १६ पंक्तियॉ खुदी हुई हैं। डाक्टर फ्लीट ने इंडियन एंटिक्वेरी के ५।६७ तथा ८।२३७ मे इसे दो बार सम्पादित किया था। पुन कीलहार्न ने एपिग्राफिया इंडिका के षष्ठ भाग के आरम्भ में इसे प्रकाशित कराया।

यद्यपि इस लेख मे जैनमन्दिर के निर्माण का ही उल्लेख प्रधान है किन्तु अपने राजा सत्याश्रय तथा उसके वंश का भी सुन्दर वर्णन इसमे किया गया है। सुविधा के लिए इसकी विषय-वस्तु को हम विभक्त कर सकते हैं—
(१) जिनेन्द्र को नमस्कार, (२) चालुक्य-वंश (३) सत्याश्रय (पुलिकेशी

द्वितीय) मन्दिरकार का संरक्षक (४) जयसिंह वल्लभ (५) उसका पुत्र रणराग ( ) उसका पुत्र पुलकेशी (प्रथम) जिसने वातापि (आधुनिक बादामि) मे राजधानी बनाई, (७) उसका पुत्र कीर्तिवर्मा नल-मौर्य-कदम्ब का विजेता (८) उसका अनुज मंगलेश कट्चुरि और रेवती द्वीप का विजेता (९) पुलकेशी (द्वितीय) —राज्य को चाचा से छीनना आप्पायिक और गोविन्द पर विजय वनवासी पर घेरा गंग अलुप मौर्य विजय पश्चिम समुद्र की पुरी पर घेरा लाट मालव, गुर्जर को अधीन करना हर्षवर्धन को रोकना नर्मदा के किनारे सैनिक केन्द्र ९९ हजार गाँवों वाले महाराष्ट्रों की विजय, कलिंग कोसल विजय पिष्टपुर का किला और कुणाल द्वीप को लेना काँची के पल्लवों को हराना चोल विजय (१०) सत्याश्रय के शासन-काल में ५५६ शक-संवत् (६३४ ई०) में जिन-मन्दिर का रविकीर्ति के द्वारा निर्माण (११) रविकीर्ति की बनाई हुई प्रशस्ति कविता में कालिदास और भारवि के समान।

इतिहास—प्रस्तुत शिलालेख चालुक्य-वंश के प्रधान राजा पुलकेशी द्वितीय के वीर कार्यों का वर्णन करता है। उसका दूसरा नाम सत्याश्रय भी था। सत्याश्रय प्राय समस्त दक्षिण भारत का राजा था। ठीक इसी समय हर्षवर्धन भी समस्त उत्तर भारत का राजा था। उसका भी उल्लेख इस लेख मे है। इस लेख का समय ५५६ शक-संवत् अर्थात् ६३४ ई है। हर्ष ने ६ ६ से ६४७ ई तक राज्य किया। चीनी यात्री हुनत्सांग ने इसी के राज्यकाल मे समस्त भारत का परिभ्रमण किया था। वह ४१ ई० मे बादामी (वातापी चालुक्यो की राजधानी) भी गया था। अतएव इस लेख की घटनाओं की तुलना उस चीनी यात्री के वर्णन से भी की जाती है।

चालुक्यवंश मे उत्पन्न प्रथम दो राजाओं—जयसिंह और रणराग की कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती। रणराग के पुत्र पुलकेशी (प्रथम) ने इन्दुकान्ति पुरी से आकर वातापि मे अपनी राजधानी किसी कदम्ब राजा (सम्भवत हरिवर्मा) को हराकर प्राय ५५ ई मे बनाई। इसने अश्वमेध

यज्ञ किया था, दूसरे शिलालेखों में इसके द्वारा कई यज्ञ किये जाने का वर्णन है जैसे—अग्निष्टोम, अग्निचय, वाजपेय, बहुसुवर्ण तथा पौराडरीक।

उसके पुत्र कीर्तिवर्मा ने प्राय ५६७ ई० में राजा होकर नल, मौर्य और कदम्ब-राजाओं को हराया। नल राजाओं के दो लेख मिले हैं—एक तो जयपुर के पास पोदागढ पहाडी में जिसमें नलों को कलिग का राजा कहा है। सभव है कि चालुक्यों के राज्य-विस्तार से ये भाग गये हों। दूसरे रीठपुर के ताम्र लेख (मध्यप्रदेश) से मालूम होता है कि वहाँ भी इनका राज्य था। मौर्य लोग उत्तरी कोंकण के राजा थे। कदम्ब लोग बेलगाव तथा धरवार जिले में पश्चिमी भाग के और कनारा के राजा थे। कीर्तिवर्मा ने कृष्णवर्मा (द्वितीय) को हराया होगा। अपने अनुज मंगलेश की प्रेरणा से इसने कई मन्दिर भी बनवाये थे।

मंगलेश प्राय ५९७ ई० में राजा हुआ। रेवती द्वीप (आधुनिक रेदि) को इसने जीता तथा कलचुरी-राजा (बुद्धराज) को परास्त किया। बुद्धराज चूंकि गुर्जर और मालवा का राजा था अत मंगलेश ने उन देशों पर भी आक्रमण किया था। इसने अपने पुत्र को राज्य देने का प्रयास किया था। किन्तु पुलकेशी के सामने सफल न हो सका (श्लोक १४-१५)। पुलकेशी इस वश का सबसे बडा राजा हुआ किन्तु मंगलेश की मृत्यु के बाद राज्य की स्थिति को डगमग देखकर गोविन्द और आप्पायिक ने भीमा नदी के उत्तरवर्ती क्षेत्र पर आक्रमण किया। पुलकेशी ने ऐसा प्रत्याक्रमण किया कि गोविन्द ने तो सन्धि कर ली और आप्पायिक हार गया। इसके बाद पुलकेशी ने वरदा नदी के किनारे के वनवासी किले को ले लिया। यह उत्तर कनारा मे है तथा कदम्बों की राजधानी यही थी। यहो उसने भोगिवर्मा के पुत्र विष्णुवर्मा को हराया होगा। पुन उसने गग और अलुप को हराया था। गग-जाति मैसूर के गगवाडी में राज्य करती थी। पुलकेशी ने शायद गगराजा दुर्विनीत को हराया था। वह विद्वान् भी था और उसने ६०५ से ६५०ई० तक राज्य किया था। अलुप जाति मालवार की नाग जाति की एक शाखा थी। उत्तरी कोंकण के मौर्य लोग सम्भवत

मंगलेश की मृत्यु के बाद स्वतंत्र हो गये थे उन्हें पुलकेशी ने फिर हराया। मौर्यों की राजधानी पुरी ही होगी। लाट मालव और गुजरात पर भी उसने चढ़ाई की थी।

पुलकेशी का सबसे बड़ा काम था हर्षवर्धन को नर्मदा किनारे रोकना। इस घटना का वर्णन ह्वेनत्सांग ने भी किया है। पुलकेशी के उत्तराधिकारियों ने अपने शिलालेखों में इसका अतिरंजन कर दिया है तथा कहा है कि उस घटना के बाद पुलकेशी ने परमेश्वर की उपाधि ली थी। उसने नर्मदा के किनारे एक बड़ी सेना रख छोड़ी थी जो विदेशियों को रोक सके। महाराष्ट्र के तीन देशों को भी उसने जीता। उसके बाद कोसल तथा कलिंग देशों की भी विजय पाई। कोसल तो महानदी और गोदावरी के बीच का मध्यप्रदेश था तथा कलिंग उत्कल का दक्षिणी भाग था जिसकी कलिंगम् राजधानी थी। कुणाल द्वीप को लेकर उसने काँची के पल्लव—महेन्द्रवर्मा— को हराया था। अंत में कावेरी पार करके वह चोल केरल और पाण्ड्यों से मिला। इस प्रकार यह शिलालेख इतिहास के एक गूढ़ पृष्ठ का अनावरण करता है।

साहित्यिक महत्त्व—न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्युत साहित्यिक-दृष्टि से भी यह शिलालेख समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भलेख के समान ही महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत के दो महाकवियों—कालिदास और भारवि—के नामोल्लेख से इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। इन दोनों के काल की अन्तिम-सीमा इसी शिलालेख से मालूम पड़ती है। सन् ६३४ ई० तक ये बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। रविकीर्ति का यह कथन कि उसने कालिदास और भारवि की कीर्ति पा ली है, बिलकुल अतिशयोक्ति है। वस्तुतः वह संस्कृत के कवियों की पंक्ति में रखने योग्य है।

हर्ष-चरित में कहे गये 'उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु' के अनुसार यह वास्तविक दाक्षिणात्य है। उसकी उत्प्रेक्षायें बहुत चमत्कारक हैं यद्यपि प्रायः सभी दूसरे कवियों से ली हुई हैं। मालिन्य का अभाव रवि-

कीर्त्ति में खटकता है। किन्तु इसमें उसके अगाध अध्ययन का भली-भाँति परिचय मिलता है। अलंकारशास्त्र के सभी नियमों को वह अच्छी तरह जानता है। कुल ३७ पद्यों में ही उसने १७ छन्दों का प्रयोग किया है जो छोटे-बड़े कई प्रकार के हैं। देवपाड़ा शिलालेख में भी ऐसा ही वर्णन है किन्तु उसके छन्द बड़े-बड़े हैं तथा सभी पठनीय, जबकि प्रस्तुत लेख में आर्या (१, २, ३, ४, ७) और आर्यागीति (३७) जैसे विचित्र छन्द भी हैं। छन्दों की विभिन्नता से राजाओं के परिवर्तन तथा उनकी विभिन्न कृतियों की सूचना स्पष्ट होती है।

भौगोलिक और ऐतिहासिक नामों से यह शिलालेख भरा पड़ा है जिससे काव्य-प्रवाह रुक जाता है और हमें वैज्ञानिक अनुसंधान करना पड़ता है। इस विचार से देवपाड़ा शिलालेख कहीं अच्छा है जिसके प्रत्येक श्लोक में उक्ति-वैचित्र्य भरा पड़ा है। इस लेख में भी चमत्कार है किन्तु दबा दिया गया है। सौन्दर्य की दृष्टि से श्लोक-संख्या १०, १२, १६, १७, १८, २१ तथा २८ का विशेष मनन करें। इनमें अन्तिम वाला देखें—कुनाल झील के पास हाथियों का समूह खड़ा है, घायल मनुष्यों के रक्त से जल लाल हो रहा है, मालूम होता है कि बादलों से भरा हुआ आकाश हो और उसमें संध्या की लाली छिटकी हुई है। कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है! रघुवंश में भी कुश किराती से ऐसा ही कहते हैं—

पश्यावरोधैं शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलितांगरागैः।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥(१६।५८)

इसी प्रकार अपनी उत्प्रेक्षाओं में वह पूर्वकवियों का, विशेषतया कालिदास और भारवि का ऋणी है। डा० कीलहॉर्न ने ऐसे स्थलों की पूर्ण सूची दी है। हम इनमें मुख्य स्थानों को देखें—श्लोक १—कि० ५।२२ वीतजन्मजरसं, ५ नृत्यद्भीमकबन्ध – र० ७।४८ नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श, १० पृथुकदम्बकदम्ब—कि० ५।९ पृथुकदम्बकदम्ब, १८ हंसावली-मेखला—कि० ४।७ तत स कूजत्कलहंसमेखला, २१ जलनिधिरिव व्योम—

२ ४।२६ भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् । इस प्रकार शब्दापहरण और अर्थापहरण के कई स्थल हैं।

शब्दालङ्कारों का प्रेम रविकीर्ति में बहुत है। यमक अनुप्रासादि का प्रचुर प्रयोग हुआ है। ये प्रायः प्रत्येक पद्य में हैं। माधुर्यगुण में १८वें श्लोक का अपना ही स्थान है। अर्थालङ्कारों में प्रधानतया रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा हैं जिन्हें अनुवाद के साथ लगा दिया है। रविकीर्ति अपने को भारवि और कालिदास कहते हैं किन्तु न तो उनमें भारवि का अलौकिक अर्थ-गाम्भीर्य है और न कालिदास की अनुपम उपमायें।

इस पुस्तक की रचना में मैंने डिसकलकर की पुस्तक (Selections from Sanskrit Inscriptions) से सर्वाधिक सहायता ली है। डुब्रील (Dubreuil History of Deccan) तथा आर. डी. बनर्जी की कृतियों का उपयोग भी यथास्थान किया गया है। इनका मैं पूर्ण कृतज्ञ हूँ। पटना कालेज के अपने सहयोगियों तथा स्नातकोत्तर विभाग के अपने छात्रों का भी मैं आभारी रहूँगा जिनकी प्रेरणा से निरन्तर बढ़ रहा हूँ। शिलालेखों के साहित्यिक अध्ययन के लिए मैं अपनी अगली कृति (A Literary Study of Sanskrit Inscriptions) शीघ्र ही आपके समक्ष रखूँगा।

तुलसी जयन्ती २०१७

निवेदक—
उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि'

ऐहोलशिलालेखः

जयति भगवाञ्जिनेन्द्रो वीतजरामरणजन्मनो यस्य ।
ज्ञानसमुद्रान्तर्गतमखिलं जगदन्तरीपमिव ॥ १ ॥

भगवान जिनेन्द्र की जय हो, जो बुढापा, मृत्यु और जन्म से रहित हैं तथा जिनके ज्ञानरूपी समुद्र के भीतर सारा ससार द्वीप के समान है। (रूपक, उपमा) ॥१॥

तदनु चिरमपरिमेयश्चलुक्यकुलविपुलजलनिधिर्जयति ।
पृथिवीमौलिललाम्नां य प्रभव पुरुषरत्नानाम् ॥ २ ॥
शूरे विदुषि च विभजन्दानं मानं च युगपदेकत्र ।
अविहितयाथासंख्यो जयति च सत्याश्रय सुचिरम ॥ ३ ॥

उसके बाद चलुक्य-वंश-रूपी विशाल और अपरिमित समुद्र की सदा जय हो, जो पृथ्वी के सिर पर अलंकार के रूप मे सुशोभित पुरुषरूपी रत्नों का उत्पत्ति-स्थान है। (रूपक) ॥२॥ वीर और विद्वान् किसी एक पर, एक साथ ही, दान और सम्मान प्रदान करनेवाले सत्याश्रय (पुलिकेशी द्वितीय) की भी सदा जय हो, जो संख्या के क्रम (यथासख्य) को नहीं मानता। ['यथासंख्यमनुदेश समानाम्' (पा० सू० १।३।१०) के अनुसार वीर और विद्वान् को क्रमश दान और सम्मान करना चाहिये किन्तु सत्याश्रय दोनों मे किसी एक को भी दोनों चीजें दे देता था। यथासंख्य एक अलंकार भी है जिसमें भी यही बात रहती है। अत दोनों प्रकार के यथासंख्यों का उल्लंघन नहं करता था] ॥३॥

पृ-थीवल्लभश-ो येषाम यथता नि र नात ।
तद्व शपु जिगीषुपु तपु वहु-ग-नतातपु ॥ ४ ॥
नानाहेतिशताभिघातपतितश्रा-ता-वपत्तिद्विपे
नृत्यद्भीमकबन्धखड्गकिरण-वालासहस्रे रणे ।
लक्ष्मीभावितचापलाऽपि च कृता शौर्येण येनात्मसात्
राजासीज्जयसिंहवल्लभ इति ख्यातश्चलुक्या वय ॥५॥

जिनके लिए पृथ्वीपति शब्द (उपाधि) सदा सार्थक होता रहा उसके वश में उत्पन्न ऐसे बहुत-से विजयेच्छु राजाओं के समाप्त हो जाने पर—॥४॥ विख्यात चलुक्य-वंशी राजा जयसिंहवल्लभ हुआ जिसने चंचलता दिखानवाली लक्ष्मी को भी अपनी वीरता से रण म अपने अधीन कर लिया; उस रण म नाना प्रकार के सैकड़ो शस्त्रों (हेति) के प्रहार से गिरकर घोड़े पदल और हाथी काँप रहे थे तथा जिसम हजारों भयकर धड़ (कबन्ध) और तलवार की किरणों की ज्वालाय नाच रही थीं ॥५॥

तदात्मजोऽभूद्रणरागनामा दिव्यानुभावो जगदेकनाथ ।
अमानुषत्व किल यस्य लोक सुप्तस्य जानाति वपु प्रकर्षात् ॥६॥

उसका पुत्र रणराग नाम का था जो दिव्य महिमायुक्त तथा ससार का एकमात्र स्वामी था सो जाने पर जिसके अलौकिक व्यक्तित्व को ससार उसके शरीर के उत्कर्ष से ही समझता था [यदि रणराग देवता है तो उसे देवताओं के समान ही आँखे बन्द नहीं करनी चाहिये किन्तु निद्रावस्था मे तो वह आँख बन्द करता ही था ऐसी दशा में उसका देवत्व शरीर के उत्कर्ष से समझते थे] ॥६॥

तस्याभवत्तनूज पोलेकेशी य श्रिते-दुकान्तिरपि ।
श्रीवल्लभोऽप्ययासीद् वातापिपुरीवधूवरताम् ॥ ७ ॥
यस्त्रिवर्गपदवीमल क्षितौ नानुग-तुमधुनाऽपि राजकम् ।
भूश्च येन हयमेधयाजिना प्रापितावभृथमज्जना बभौ ॥८॥

उसका पुत्र पोलेकेशी हुआ जो चन्द्रमा की शोभा (या इन्दुकान्ति नाम की नगरी) को धारण करने पर भी तथा श्रीवल्लभ [नामकी उपाधि लेने] पर भी (अर्थात् दो पत्नियों को होने पर भी) वातापिपुरी (आधुनिक वदामी) रूपी वधू का वर हो गया। (विरोधाभास) ॥७॥ जिसके त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के मार्ग का अनुकरण करने में आज भी पृथ्वी में कोई राजा समर्थ नही। अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले उस राजा ने जब पृथ्वी को अवभृथ (यज्ञसमाप्ति का) स्नान कराया तो वह चमकने लगी ॥८॥

नलमौर्यकदम्बकालरात्रिस्तनयस्तस्य बभूव कीर्तिवर्मा।
परदारनिवृत्तचित्तवृत्तेरपि धीर्यस्य रिपुश्रियाऽनुकृष्टा ॥९॥
रणपराक्रमलब्धजयश्रिया सपदि येन विरुग्णमशेषतः।
नृपतिगन्धगजेन महौजसा पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम् ॥१०॥

उसका पुत्र कीर्तिवर्मा हुआ जो नल, मौर्य और कदम्ब जातियों के लिए प्रलय की रात्रि ही था, परस्त्रियों से अपनी मनोवृत्ति को अलग रखने पर भी उसकी बुद्धि शत्रुओं की लक्ष्मी (धन) मे अनुरक्त थी (रूपक, विरोधाभास) ॥९॥ युद्ध में पराक्रम दिखाकर जिसने विजयश्री पाई थी, उस गन्ध-गज (जिस हाथी का मद सुगन्धित होता है) रूपी राजा ने शीघ्र अपनी बड़ी शक्ति से कदम्बजाति-रूपी विशाल कदम्बवृक्षों के समूह (कदम्ब) का समूल उच्छेद कर दिया (रूपक) ॥१०॥

तस्मिन्सुरेश्वरविभूतिगताभिलाषे
राजाऽभवत्तदनुजः किल मङ्गलेशः।
यः पूर्वपश्चिमसमुद्रतटोषिताश्व—
सेनारजःपटविनिर्मितदिग्वितानः ॥११॥

उस राजा ने जब देवराज इन्द्र की विभूति पाने की इच्छा की (मर गया) तब उसका छोटा भाई मंगलेश राजा हुआ जिसने पूर्व और पश्चिम समुद्र के किनारे ठहरे हुए घुड़सवारो की सेना की धूल-रूपी वस्त्र से ही दिशाओं

का वितान (tent) तान कर लिया था (उसके राज्य की सीमा पूर्व और पश्चिम सागर तक थी) ॥११॥

स्फुरन्मयूखैरसिदीपिकाशतैः व्युदस्य मातङ्गतमिस्रसञ्चयम् ।
अवाप्तवान् यो रणरङ्गमन्दिरे कटच्छुरिश्रीललनापरिग्रहम् ॥१२॥

जिस राजा ने चमकनी हुई किरणोंवाले खड्गरूपी सैकड़ों दीपकों के सहारे, हाथी रूपी अंधकार-समूह को हटाकर रणक्षेत्र-रूपी घर में कटच्छुरि-राज्य की लक्ष्मी रूपी कन्या का (पाणि) ग्रहण किया था (रूपक)॥१२॥

पुनरपि च जिघृक्षोस्सैन्यमाक्रान्तसालं
रुचिरबहुपताकं रेवतीद्वीपमाशु ।
सपदि महदुदन्वत्तोयसङ्क्रान्तबिम्बं
वरुणबलमिवाभूदागतं यस्य वाचा ॥ १३॥

और उसके बाद जब उसने रेवती-द्वीप को शीघ्र लेने की इच्छा की तब उसकी वह विशाल सेना जिसने [द्वीप के] प्राचीरों (दीवालों) पर चढ़ाई कर दी थी तथा बहुत सी अच्छी अच्छी पताकाओं से युक्त थी समुद्र के जल में दिखलाई पड़नेवाली छवि से युक्त वरुण की सेना के समान उसकी आज्ञा से शीघ्र ही चली आई ॥१३॥

तस्याग्रजस्य तनये नहुषानुभावे
लक्ष्म्या किलाभिलषिते पुलिकेशिनाम्नि ।
सासूयमात्मनि भवन्तमतः पितृव्यं
ज्ञात्वापरुद्धचरितव्यवसायबुद्धौ ॥ १४ ॥

स यदुपचितमन्त्रोत्साहशक्तिप्रयोग—
क्षपितबलविशेषो मङ्गलेशः समन्तात् ।
स्वतनयगतराज्यारम्भयत्नेन सार्द्धं
निजमतनु च राज्यं जीवितं चोज्झति स्म ॥ १५ ॥

उसके बड़े भाई के पुलिकेशी नामक पुत्र ने, जो राजा नहुष के समान प्रतापी था तथा लक्ष्मी जिसे [राजा बनाना] चाहती थी, अपने चाचा (मंगलेश) को अपने ऊपर ईर्ष्या करते हुए तथा उसे हटाने के कार्य में (अपरुद्ध-चरिते) स्थिर संकल्प किये हुए जाना और— ॥ १८ ॥ उस मंगलेश ने ही, जिसका बड़ा बल उस (पुलिकेशी) के द्वारा संगृहीत मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति के प्रयोग से क्षीण कर दिया गया, अपने पुत्र के राज्याभिषेक करने के प्रयास के साथ-साथ ही, अपने विशाल राज्य और जीवन को भी त्याग दिया। (राजा की तीन शक्तियाँ हैं—प्रभु, मन्त्र और उत्साह) राजा न होने से पुलिकेशी को प्रभुशक्ति नहीं थी मन्त्र (Counsel) और उत्साह (energy) से ही उसने मंगलेश का बल क्षीण कर दिया था ॥ १५ ॥

तावत्तच्छत्रभङ्गे जगदखिलमरात्यन्धकारोपरुद्धं
यस्यासह्यप्रतापद्युतिततिभिरिवाक्रान्तमासीत्प्रभातम् !
नृत्यद्विद्युत्पताकैः प्रजविनि मरुति क्षुण्णपर्यन्तभागै—
र्गर्जद्भिर्वारिवाहैरलिकुलमलिनं व्योम यातं कदा वा ? ॥१६॥

जैसे ही उस (मंगलेश) का प्रभुत्व नष्ट हुआ कि अन्धकार से ढँके हुए समूचे संसार मे प्रभात हो गया मानों उस (पुलिकेशी) के असह्य बल के ज्योति पुंज से आक्रान्त हो गया हो। वेगवान् वायु के [बहने पर], नाचती हुई बिजली-रूपी पताकाओं से युक्त तथा जिनके किनारे के भाग नष्ट हो गये हैं, ऐसे गरजनेवाले मेघों से, आकाश कबतक भ्रमर-समूह के समान मलिन रह सकता है ? ॥ १६ ॥

लब्ध्वा कालं भुवमुपगते जेतुमाप्पायिकाख्ये
गोविन्दे च द्विरदनिकरैरुत्तरां भैमरथ्याः ।
यस्यानीकैर्युधि भयरसज्ञत्वमेकः प्रयात—
स्तत्रावाप्तं फलमुपकृतस्यापरेणापि सद्यः ॥१७॥

अवसर पाकर भमरथी (आधुनिक भीमा-नदी) के उत्तर की भूमि को जीतने के लिए हाथियों के साथ आये हुए आप्पायक और गोविन्द में एक ने तो उनकी सेना के द्वारा युद्ध में भय का रस चान लिया (= भाग गया) और दूसरे ने भी शीघ्र ही वहां उपकार (पुलिकेशी की दया या गोविन्द द्वारा की गई सेवा) का फल पा लिया अर्थात् सन्धि कर ली (पर्यायोक्ति) ॥ १७ ॥

वरदातुङ्गतरङ्गरङ्गविलसद्धंसावलीमेखलां
वनवासीमवमृद्नतः सुरपुरप्रस्पर्धिनीं सम्पदा ।
महता यस्य बलार्णवेन परितः सञ्छादितोर्वीतलं
स्थलदुर्गं जलदुर्गतामिव गतं तत्तत्क्षणे पश्यताम् ॥१८॥

अपनी सम्पत्ति से इन्द्रपुरी की स्पर्धा करनेवाली वनवासी-पुरी का मर्दन जब वह कर रहा था जो (पुरी) मेखला के रूप में वरदा नदी की ऊँची तरंग रूपी रंगमंच पर विलास करनेवाले हंसों की पंक्ति धारण किये हुए थी तब वहां का स्थलदुर्ग जिसका धरातल उस (राजा) के विशाल सैन्य-समुद्र से चारों ओर घिरा हुआ था देखनेवालों के लिए शीघ्र ही जलदुर्ग के रूप में परिणत हो गया (उत्प्रेक्षा) ॥१८ ॥

गङ्गालुपेन्द्रा व्यसनानि सप्त हित्वा पुरोपार्जितसम्पदोऽपि ।
यस्यानुभावोपनताः सदासन्नासन्नसेवामृतपानशौण्डाः ॥१९॥
कोङ्कणेषु यदादिष्टचण्डदण्डाम्बुवीचिभिः ।
उदस्तास्तरसा मौर्यपल्वलाम्बुसमृद्धयः ॥२०॥

गंग और अलुप के राजाओं ने सात व्यसनों को छोड़कर पहले सम्पत्ति अर्जित की थी फिर भी उसकी महिमा से अवनत होकर उसके समीप रहकर सेवा-रूपी अमृत का पान करके मतवाले हो गये थे (सात व्यसन—द्यूतं मांसं सुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गना । महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥) सुरा छोड़ने के बाद पुनः सुरा-सेवक हो गये (विरोधाभास) ॥ १९ ॥

कोंकण-देश में, जिसके द्वारा भेजी गयी सेना रूपी प्रचण्ड तरंग के द्वारा, मौर्य-रूपी तालाब की बाढ़ (जलवृद्धि) वेग में समाप्त हो गई (रूपक) ॥ २० ॥

अपरजलधेर्लक्ष्मीं यस्मिन्पुरीं पुरभित्प्रभे
मदगजघटाकारैर्नावां शतैरवमृद्नति ।
जलदपटलानीकाकीर्णं नवोत्पलमेचकं
जलनिधिरिव व्योम व्योम्नः समोऽभवदम्बुधि ॥२१॥
प्रतापोपनता यस्य लाटमालवगुर्जराः ।
दण्डोपनतसामन्तचर्याचार्या इवाभवन् ॥२२॥

जब त्रिपुर-नाशक (शिव) के समान कान्ति वाला वह [पुलिकेशी], मतवाले हाथियों के समूह के आकार की अपनी सैकड़ों नावों के सहारे, पश्चिम-सागर की लक्ष्मीस्वरूपा पुरी का मर्दन कर रहा था तो मेघ-समूह रूपी सेना से घिर कर और नये कमल के समान काला बना हुआ आकाश समुद्र के समान हो गया और समुद्र भी आकाश के समान हो गया (उपमेयोपमा) ॥२१॥

जिसके प्रताप से पराभूत होकर लाट, मालव और गुर्जर मानों उसके बल से दबे हुए सामन्तों के व्यवहार [रूपी पाठ] को पढ़ानेवाले बन गये ॥२२॥

अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना— २५६
मुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः ।
युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥२३॥

अमित-धन से समृद्ध सामन्तो के समूह के मुकुट की मणियों की किरणों से जिस (हर्ष) के चरणारविन्द ढँके थे युद्ध में गिरे हुए बड़े-बड़े हाथियों के समूह से जो घृणित हो गया था ऐसे हर्षवर्धन ने उसके चलते भय से अपना आनन्द छोड़ दिया था ॥२३॥

भुवमुरुभिरनीकैः शासतो यस्य रेवा—
विविधपुलिनशोभावन्ध्यविन्ध्योपकण्ठ ।
अधिकतरमराजत्स्वेन तेजोमहिम्ना
शिखरिभिरिभवर्गो वर्ष्मणा स्पर्द्धयेव ॥२४॥
विधिवदुपचिताभिः शक्तिभिः शक्रकल्प
स्त्रिसृभिरपि गुणौघैः स्वैश्च माहाकुलाद्यैः ।
अगमदधिपतित्वं यो महाराष्ट्रकाणां
नवनवतिसहस्रग्रामभाजां त्रयाणाम् ॥२५॥

जब वह अपनी विशाल सेना के सहारे पृथ्वी पर शासन कर रहा था, तब रेवा (नर्मदा) नदी के विविध बालुकामय तटों (पुलिन) की शोभा से समृद्ध बना हुआ विन्ध्याचल का समीपवर्ती प्रदेश उसके प्रताप की महिमा से और अधिक शोभने लगा [किन्तु यह शोभा उसके] हाथियों के द्वारा त्याज्य [समझी गई] क्योंकि वे मानों अपनी विशालता के कारण पर्वतों से ईर्ष्या कर रहे थे (उत्प्रेक्षा) ॥२४॥ उस इन्द्रोपम राजा ने विधि से संगृहीत तीनों शक्तियों (प्रभु मन्त्र उत्साह) के द्वारा और अपने उच्चकुल आदि अनेक गुणों के द्वारा, नौ और नब्बे (=९९) हजार गांवों वाले तीनों महाराष्ट्रकों का आधिपत्य पाया था ॥२५॥

गृहिणां स्वगुणैस्त्रिवर्गतुङ्गा विहितान्यक्षितिपालमानभङ्गा ।
अभवन्नुपजातभीतिलिङ्गा यदनीकेन सकोसलाः कलिङ्गाः ॥२६॥
पिष्टं पिष्टपुरं येन जातं दुर्गमदुर्गमम् ।
चित्रं यस्य कलेर्वृत्तं जातं दुर्गमदुर्गमम् ॥२७॥

[अपने यहां रहनेवाले] गृहस्थों के अपने गुणों के कारण जो त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) में ऊँचा था दूसरे राजाओं के सम्मान नष्ट करने में प्रसिद्ध था—वह कलिंग-देश कोसल के साथ-साथ उसकी सेना के द्वारा

कावेरी द्रुतशफरीविलोलनेत्रा चोलाना सपदि जयोद्यतस्य यस्य ।
प्रश्च्योत मदगजसेतुरुद्धनीरा संस्पर्श परिहरति स्म रत्नराशे ॥२०।
चोलकेरलपाण्ड्यानां योऽभूत्तत्र महर्द्धये ।
पल्लवानीकनीहारतुहिनेतरदीधिति ॥२१॥

जब वह चोल-देश पर विजय पाने को शीघ्र तयार हुआ तब छोटी मछली के समान चपल आँखोंवाली कावेरी समुद्र के स्पर्श का परिहार कर रही थी क्योंकि उसका जल मद चुलाने वाले हाथियों के पुल से रुक गया था [पुलिकेशी ने कावेरी के दक्षिण प्रदेश को जीतने के लिए नदी पार की थी पानी रुक जाने से समुद्र म नहीं पहुँच रहा था । कावेरी नायिका समुद्र रूपी पति के पास भय से नहीं जाती थी कि वह नायिका में गर्भ देखकर उपपति रमण की शंका कर लेगा । तुल रघु ४।४५—स सैन्यपरिभोगेन गज-दानसुगन्धिना । कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥] ॥२०॥ पल्लवों की सेना रूपी कुहासे के लिए सूर्यस्वरूप [वह राजा] वहाँ चोल केरल और पाण्ड्य देशों को समृद्ध करने लगा ॥२१॥

उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिसहिते यस्मिन्समस्ता दिशो
जित्वा भूमिपतीन्विसृज्य महितानाराध्य देवद्विजान् ।
वातापीं नगरीं प्रविश्य नगरीमेकामिवोर्वीमिमां
चञ्चन्नीरधिनीलनीरपरिखां सत्याश्रये शासति ॥३२॥

सभी दिशाओं को जीतकर प्रतिष्ठित राजाओं को हटाकर देवता-ब्राह्मण का सत्कार कर और वातापी पुरी म प्रवेश करके, उत्साह, प्रभु और मन्त्र की शक्तियों के साथ वह सत्याश्रय (पुलिकेशी द्वितीय) जब अकेली नगरी-सी पृथ्वी पर शासन कर रहा था जिसकी परिखा (चहारदीवारी की खाई) के रूप में चंचल समुद्र का नीला जल था—॥३२॥

त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः ।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु ॥३३॥

पञ्चाशत्सु कलौ काले पट्सु पञ्चशतासु च ।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥३४॥

भारत-युद्ध से आज तक जब तीस, तीन हजार, सात सौ और पाच (३०+२०००+७००+५=३७३५) वर्ष बीत गये ॥३३॥ तथा कलियुग में शक राजाओं के सो पचास, छह तथा पांच सौ (५५६) वर्षों के बीत जाने पर ॥३४॥

तस्याम्बुधित्रयनिवारितशासनस्य
सत्याश्रयस्य परमाप्तवता प्रसादम् ।
शैलं जिनेन्द्रभवनं भवनं महिम्ना
निर्मापित मतिमता रविकीर्तिनेदम् ॥३५॥

जिसका शासन-क्षेत्र तीन समुद्रों से परिवृत है, उस सत्याश्रय की परम कृपा पाये हुए बुद्धिमान रविकीर्ति ने, सभी महिमाओं के भवन-स्वरूप पत्थर के इस जिनेन्द्र-मन्दिर को बनवाया ॥३५॥

प्रशस्तेर्वसतेश्चास्या जिनस्य त्रिजगद्गुरोः ।
कर्ता कारयिता चाऽपि रविकीर्तिः कृती स्वयम् ॥३६॥
येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥३७॥

इस प्रशस्ति को तथा तीनों संसारों के गुरु जिन के मन्दिर को [क्रमशः] बनानेवाला और बनवाने वाला स्वयं विद्वान् रविकीर्ति ही है ॥३६॥ जिस बुद्धिमान् ने नयी तरह से (उसी) बात को कहने के लिए, पत्थरों का दृढ़ जिन-मन्दिर बनवाया, उस रविकीर्ति की जय हो जिसने कविता में कालिदास और भारवि की कीर्ति पा ली है (पादान्तयमक) ॥३७॥